सुहागिन

विद्यावती कोकिल

M. ISMAIL

परिचय



श्रीमती विद्यावती कोकिल की रचनाओं में उनके व्यक्तित्व के ही समान अकृत्रिमता तथा अपनापन पाया जाता है। वे कोमल और गहरी अनुभूतियों को सरल सहज रूप में रखने की असाधारण कला पर अधिकार रखती हैं। पाठक ऐसा अनुभव करने लगता है कि उसकी निजी अनुभूति उसी के बोलचाल के से शब्दों में रख दी गई है।

हिंदी लेखिकाओं में स्वर्गीया श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान एक विशेष वर्ग की प्रतिनिधि थीं। श्रीमती महादेवी वर्मा दूसरी सीमा का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रस्तुत लेखिका की रचनाओं में एक प्रकार से मध्यम मार्ग का अनुसरण हुआ है। वे न केवल भूमि पर चलती हैं और न केवल आकाश में ही उड़ती हैं, बल्कि दोनों का सुखद सामंजस्य उनकी काव्य शैली में पाया जाता है।

श्रीमती कोकिल ने खड़ी बोली हिंदी के साथ कदाचित् जानबूझ कर कहीं कहीं स्वतन्त्रता ली है किन्तु यह खटकती नहीं है। साहित्यिक हिन्दी की नागरिकता तथा कृत्रिमता में इन प्रयोगों से एक प्रकार का घरेलूपन आ जाता है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि सहृदय हिन्दी पाठक प्रस्तुत रचना को पर्याप्त मात्रा में सरस तथा आकर्षक पावेंगे। मैं हृदय से इसका स्वागत करता हूँ।

प्रयाग, १९५२ धीरेन्द्र वर्मा

सुहागिन

(समर्पण के गीत)

विद्यावती 'कोकिल'

प्रकाशक
ज्योति प्रकाशन
प्रयाग

प्रकाशक :—
ज्योति प्रकाशन
२, कुलभास्कर आश्रम रोड,
इलाहाबाद ।

प्रथमबार २०००

मूल्य सजिल्द प्रति २..)
,, साधारण प्रति १॥)

मुद्रक :—
आर्य प्रिंटिङ्ग प्रेस,
१४, मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद ।

उन्हीं अनन्त करुणाशील
लाला (पिता जी) को
सादर—
तुम्हारी आत्मजा
विद्या

तुमने जिन अपने सपनों को
मुझमें सत्य किया था,
उसी सत्य से मैंने फिर
सपनो को जन्म दिया था,
मेरे सपने महारात्रि से
आज जग उठे मानो,
यह सपनों का ज्योति जागरण
इसे ताप मत जानो,
वही छटा है जो 'सुहाग' बन कर निखरी निखरी।

परिचय पत्र

प्रिय बहन,

'सुहागिन' नामक अपनी नई पुस्तक आपने पढ़ने को दी थी, उसे पढ़ गया हूँ। पहली कविता में जब पढ़ा कि 'नास्तिकता भी भक्ति हो गई' 'वे बस मेरे आकर्षण हैं।' तो मुझे ऐसा लगा कि कुछ नया सुन रहा हूँ। आजकल इस भाषा में कम लोग बोलते हैं। अधिक लोग उलटी बात करते हैं क्योंकि वह अधिक धक्कामार होती है और विश्वास किया जाता है कि जो बात पाठक के चित्त को एकदम झकझोर न डाले वह आधुनिक नहीं हो सकती। उसकी प्रथम कविता ने मुझे आकृष्ट किया, मैं



सारी पुस्तक रुक-रुक के पढ़ गया। इस कविता-संग्रह में आपने 'सुहाग' का ऐसा विशद और महान् रूप उपस्थित किया है कि वह सहृदय पाठक के चित्त को अवश्य प्रभावित करेगा। 'अब घर नहीं रहा मन्दिर है!' 'सुहागिन तुझे अकेला क्या' 'तुझे देस परदेस भला क्या' और 'मैं केवल चरणों की दासी' जैसी कविताओं में ऐसे उदात्त और विश्वस्पृक् प्रेम का चित्रण है कि ये भक्ति के भजन बन गए हैं। इन कविताओं में व्यक्तित्व का इस प्रकार संस्कार हुआ है कि वह अस्ति-नास्ति के बीच में आ गया है। केवल दीप-शिखा का आलोक दिखाई देता है। शिखा सम्पूर्ण रूप से आलोक में बदल गई है। मुझे ये कविताएँ बहुत रुची हैं। इन रचनाओं की लेखिका को निस्सन्देह इनकी रचना में ही प्राप्तव्य प्राप्त हो गया है फिरभी मैं उस आनन्द की प्राप्ति के उपलक्ष में आपको बधाई देता हूँ जो मुझे रेल की थका देने वाली लंबी यात्रा में इन कविताओं ने सुलभ किया है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

आमुख

विज्ञान ने धरती की पर्तों को उघार कर रख दिया है। प्रति क्षण नई खोज, प्रति दिन नई सूचना। सामाजिक प्राणी मनुष्य अचकचा कर यह सब देखता है। और उसके हृदय में उद्वेलित होने लगती है नई उत्सुकता, नई जिज्ञासा। विज्ञान काल और दिशा का मापक ही नहीं एक नव्य भव्य रागात्मकता का जनक भी है। इतिहास में यह एक नई घटना है। प्रथम बार समाज में इतने बड़े पैमाने पर मानसिक और सांस्कृतिक परिवर्तन बिना किसी धार्मिक आन्दोलन के हुआ। तभी तो आज हम प्रातःकाल उठकर ठाकुर जी के चरणों का स्मरण भूल कर दैनिक पत्र का स्मरण करते हैं।

इतिहास का यह नया चमत्कार अभी चमत्कार ही बना है, भाव जगत की गहराई में नहीं पहुँच पाया है। अभी वह सृजन का तत्व नहीं बन पाया है। हम इन खोजों और सूचनाओं को रागहीन तथा एक तटस्थ व्यक्ति की भाँति सुनते रहते हैं। और मस्तिष्क में जैसे हटो, बचो की ध्वनि ही गूँजा करती है। समाज की ऐसी मनः स्थिति में एक कविता की पुस्तक लेकर उपस्थित होना दुस्साहस ही समझा जायगा। यही नहीं कि पाठकों के सामने आने में ही मुझे संकोच हो रहा है। मुझे साहित्यिकों के सामने आने में एक दूसरी लज्जा का अनुभव हो रहा है। आज के साहित्यकार अपनी अनन्त साधना से जिस अभिनव श्रद्धा और विश्वास को जन्म देने वाले हैं उसका क्या यह 'सुहागिन' एक पुष्प भी बन सकेगी।

उस श्रद्धा को जागृत करने की सामर्थ्य मुझ में न हो, पर मैं यह नहीं मानती कि विज्ञान केवल वह स्थिति है जहाँ पहुँच कर केवल हमारी बौद्धिक प्रवृत्ति ही परिष्कृत होती है और जिसमें केवल भौतिक सुखों की ही वृद्धि होती है। जिसके परिणाम स्वरूप स्वार्थ और घृणा ही बढ़ सकते हैं और जिसके नीचे छिपे हुए विश्व-बन्धुत्व के अधीर प्रेम सूत्र के फैलने की कोई सम्भावना नहीं।

यह कैसे मान लिया जाय कि रागात्मकता और आध्यात्मिकता सदा के लिए अब सुप्त हो गई। क्या मस्तिष्क और हृदय एक दूसरे के जीवित रहने की शर्त नहीं हैं? एक के सुप्त होने से दूसरा भी सुप्त हो जाता है। आज की अभिनव रागात्मकता और नव-प्रसूत श्रद्धा में मेरा पूरा विश्वास है। बौद्धिकता के साथ ही रागात्मकता भी समान रूप से विकसित होती है। यह दूसरी बात है कि अति मनुष्य का स्वभाव है। वह जिस प्रवृत्ति के प्रति जागरूक होता है उसमें कुछ न कुछ अति अवश्य ही आ जाती है। सदा ही बाह्य और आर्थिक परिवर्तनों के आधार पर रागात्मक व आध्यात्मिक परिवर्तन भी होते ही आए हैं। आदि काल से ईश्वर की भावना भी तो ज्यों की त्यों नहीं चली आ रही है। उसकी परिभाषा में अनवरत विकास होते आए हैं। इसी प्रकार हमारी कलात्मक और रागात्मक प्रवृत्तियों में भी उत्तरोत्तर विकास होता आया है।

विचार शाश्वत हैं। बुद्धि जगत अपनी सत्यानुभूतियों से जो व्यवस्थाएँ बनाता है और उनकी सजावट में हमारी रागात्मकता जो प्रेममूर्तियाँ गढ़ती है उनका बाह्य आकार और रूप रेखा भले ही नश्वर हो पर उनकी प्राण-प्रतिष्ठा और उनके प्रति हमारी आस्था शाश्वत है। राम और कृष्ण के प्रति तुलसी और सूर की जो सत्यानुभूतियाँ थीं वे आज भी वैसी ही हैं।

सत्यानुभूतियाँ ही हमारी संस्कृति की लड़ियों को जोड़ती हैं और ये प्रेम मूर्त्तियाँ ही हमारे साहित्य के पुष्प हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञान के व्यापक विकास—रेल, विजली, तार और अणु शक्ति के साथ हमारे मनोजगत में भी महान रागात्मक परिवर्तन हुए हैं। उनके प्रति हम उदास भले ही हों पर वे वैसे ही सत्य हैं जैसे वाह्य परिवर्तन। कमी है केवल सत्यानुभूति की।

विज्ञान के द्वारा एक सबसे बड़ा काम इस युग में जो हुआ है वह है सांसारिकता के साथ आध्यात्मिकता का गठबन्धन। आध्यात्मिकता या तो इतनी ऊँची वस्तु थी जो सर्व साधारण की पहुँच के परे थी। या तो वह कोरा कर्म कांड मात्र रह गई थी। पर इस नए सम्मिलन से दोनों का स्तर वहुत ऊँचा उठा है। सांसारिकता आध्यात्मिकता के संसर्ग से ऊँची उठी और आध्यात्मिकता सांसारिकता के संसर्ग से व्यापक बनी।

इस स्थिति ने एक असाधारण सम्भावना को जन्म दिया है। अब किसी व्यक्ति के लिए अपनी जाति और कर्मों को लेकर ही जन्म पर्यन्त रोने और निराश होने की आवश्यकता समाप्त हो गई है। जो जहाँ है उसे वहीं से ऊपर उठने की क्रिया आरम्भ कर देनी है। आज एक साधारण व्यक्ति के स्वतंत्र होने की सम्भावना भी उसी प्रकार है जिस प्रकार एक असाधारण व्यक्ति की। आध्यात्मिकता का क्षेत्र पूजा और विचार जगत ही न रह कर सम्पूर्ण जीवन ही उसका क्षेत्र वन गया है।

× ×

पर इस सामञ्जस्य का पूर्ण परिपाक अभी हमारी दृष्टि से ओझल है। वनाव शृंगार और झूठे यश ने साधना के ऊपर विजय पाई है और अभाग्य यह है कि इसे ही हम विज्ञान का युग समझ बैठे हैं। विज्ञान के युग में तो साधना का सबसे व्यापक और महान स्थान होगा। जब हमारे पास आत्म

शक्ति को दूर दूर तक फैलाने के इतने वैज्ञानिक साधन नहीं प्राप्त थे तब हमारी साधना की कमी इतनी खतरनाक नहीं थी जितनी आज है। उसमें भी साहित्यकार तो एक महान साधक होता है। साधक इसी लिए है कि वह समाज की ऊँची सेवा करके भी अपने लिए करीब करीब कुछ नहीं चाहता। साहित्यकार का प्रतिदान होता है स्वयं उसका साहित्य। साहित्यकार उस भावना को एक सतत समर्पण की भावना द्वारा ही प्राप्त कर पाता है। समर्पण की भावना ही साहित्य साधना का केन्द्र स्थान है। यदि जीवन को ही हम साहित्य मानलें तो समर्पण ही उसका केन्द्र है।

किसी वस्तु के प्रति, आदर्श के प्रति, पूर्ण समर्पण ही उसकी दिशा है। यह वस्तु आकार धर कर कोई व्यक्ति-विशेष या व्यवस्था-विशेष बन सकती है। जीवन में जिस प्रकार स्नेह एक केन्द्र रूप शक्ति से फैलकर सारे ससार को छा लेने की सामर्थ्य रखता है साहित्यकार की सत्यानुभूति भी उसी प्रकार व्यक्ति या आदर्श के प्रेम से विकसित होकर सारी जीवन-समस्याओं का परिवेष्टन करती है।

अपनी 'सुहागिन' के बारे में अधिक तो मैं नहीं जानती केवल इतना अनुभव अवश्य किया है कि मेरी सुहागिन को जीवन को अति निकट से चिपका रहना ही रुचा है। अति साधारण प्राणी ही सदा इसका जीवन स्रोत रहा है। जीवन की कर्दमता और कंटकाकीर्णता, और उसके फल स्वरूप संघर्षमय गतिहीनता में ही मेरी सुहागिन ने एक सुखभरी पीड़ा का अनुभव किया है। यदि कविता के रूप रस की जानकारी उसे कभी नहीं रही तो उसने जीवन में भी रस नहीं जाना। रागों के कसे जाने पर रस स्वतः बह निकला है। यही उसकी कविता हो सकती है। पर इस नीरस जीवन से और इस ज्वलन्त सोहाग

से वह भाग कर जाती भी कहाँ। उसे तो दिव्यता के दो चार कण इसी नीरस जीवन में देखने को मिले हैं। इसी कर्दम में और इन्हीं काँटों में फूल भी खिलते हैं।

जीवन की तीर्थ-यात्रा में स्थान स्थान पर जो विश्राम के स्थान मिलते हैं उसी को मेरी 'सुहागिन' ने मिलन की परिभाषा दे रक्खी है। शेष बृहत् कठिन मार्ग जिससे होकर उन स्थानों पर पहुँचा जाता है विरह हैं। एक दूसरे से कितना अभिन्न है। फिर किसे छोड़े किसे पकड़े।

लाख कटुता होने पर भी मुझे यही काँटों वाला मार्ग रुचा है। पाँव के छालों की इस अनन्त जलन में ही सृजन की कभी न बुझने वाली साध बसी हुई सी जान पड़ती है। इसी प्रकार नव विश्रामों पर वह नवीन सामञ्जस्य को प्राप्त करती हुई अनन्त की सुखद गोद की ओर अग्रसर होती जाती है। दूसरों की अपेक्षा और उपेक्षा पर बिना ध्यान दिए वह चली जा रही है।

× ×

सुहाग सदा ही स्त्री का केन्द्र विन्दु रहा है। इधर सैकड़ों वर्षों से भारत के सांस्कृतिक सूर्य के अस्त हो जाने के कारण सुहाग भी सारे जीवन की भाँति एक कृत्रिम सूर्य के प्रकाश में जी रहा है।

जीवन की सारी रागातमकता पर और उसके सारे सम्बन्धों पर एक कृत्रिम प्रकाश अपनी किरणें फैलाए हुए है। पर मेरी सुहागिन को यह सह्य नहीं। क्योंकि वह तो जीवन को अति निकट से चिपकी हुई है। उसे तो प्रकाश वहीं से मिल रहा है। वह उस कृत्रिम प्रकाश को सदा ही अस्वीकार करती आई है। वह आराधना में लगी है कि उसका सांस्कृतिक सूर्य नव-चेतना के साथ फिर से उदय हो। उसकी दिशा ग़लत है या सही यह

तो मर्मज्ञ विचारक ही बता सकेंगे। मैं तो इतना ही जानती हूँ कि जैसा अनुभव किया है बता दूँ।

× ×

जीवन की राह चलने वाले को ऊँच नीच तथा सम्मानित और ग़रीब के भेदों का ज्ञान नहीं रहता। मेरी रागात्मकता ने प्यार भले ही जाना हो पर उसका श्रेणी-विभाग नहीं जाना है। हाँ इस रागात्मकता के सहारे ही मेरे भीतर स्त्री सुलभ एक सुहाग की भावना ने जन्म लिया है। जीवन के सम्पर्क से ही इस रागात्मकता के छिपे स्रोत फूट पड़े हैं और यह भी सच है कि रागात्मकता के संसर्ग से ही जीवन सरिता में बाढ़ें आती हैं।

२

मेरे इन गीतों की भाषा पर मेरी सङ्गीत-प्रियता का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। सङ्गीत से मेरी घनिष्टता उसकी वर्ण-माला के माध्यम से नहीं हुई, मुझमें वह नैसर्गिक थी। राग रागिनियों का शास्त्रीय ज्ञान मुझे आज भी नहीं है। मेरे सङ्गीत ने जब धरती पर उतरने की इच्छा प्रकट की तब मेरे पास राग रागिनियों की चाँदनी से भरा कोई दूब का मैदान नहीं था। विवश होकर मैंने उसे अनुभवों के काँटों से रूँधे हुए भावों के कँकरीले पथ पर ही लय ध्वनि और शब्दों के सहारे से नीचे उतारा है। सङ्गीत की कामिनी मेरे व्यवहार से कुछ कुंठित अवश्य हो गई। पर इस बर्बरता में उसने कुछ पाया भी है। राग-रागिनियों द्वारा उसे पर्वतों और समुद्रों वाला संतोष अवश्य मिल सकता था किन्तु आकाश की निर्लेपता नहीं मिल सकती थी। संतोष कदाचित मनुष्य की साध का ध्येय ही नहीं है। वह सदा ही कुछ न कुछ पाने के लिए लालायित रहता है। वह पाना सम्भव है केवल हमारी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई

निर्लेप-भावना के द्वारा और इसी का नाम शायद कविता है।

इस प्रकार मेरे विचारों को सङ्गीत के आधिपत्य में रहने के कारण बौद्धिकता जन्य गम्भीर भाषा या कल्पना तथा अलंकारों के सुचिक्कण महलों में जाने का अवसर नहीं मिला। ज्ञान के कोप की यह वड़ी भारी कमी कही जा सकती है पर मैं उसके लिए मजबूर थी।

इन गीतों की भाषा, भाषा शास्त्रियों को कुछ ग्रामीण जान पड़े तो आश्चर्य नहीं। यदि लिखते समय मैं काव्य शिल्पी की भाँति शव्द चयन करने की आदी होती तो इन गीतों की प्रथम पंक्तियाँ मैं कभी ऐसी न चुनती और न ऐसे अनगढ़ तुक ही सामने लाती पर पहली पंक्तियाँ तो लय के साथ कूदती हुई अपने आप मेरे अन्तर पर पूरा अधिकार जमाकर आ वैठती हैं जिसका परिवर्तन मेरी सामर्थ्य के बाहर है।

मेरा दूसरा अभाग्य यह है कि हजार कोशिश करने पर भी मैं न पत्रकार ही वन पाई न साहित्यकार ही। मैं तो इस गतिशील संसार में सच्ची साहित्य प्रेमी भी नहीं वन सकी। पत्रकारों की भाँति किसी विषय पर न्यायाधीश होने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है और न है साहित्यकार की भाँति नवीन वादों को जन्म देने की सामर्थ्य।

साहित्यकार के सम्मान से मैं जितनी सजग और सचेत रहती हूँ पत्रकार के प्रोत्साहन से भी उतना ही भय मुझे है। मुझे संतोष है कि साहित्यिक सम्मान घर बाहर कहीं भी मुझे विशेष रूप से नहीं मिला। उससे मुझे कुछ हानि भी हुई होगी पर छोटे छोटे अगणित लाभ जो हुए हैं उन पर मैं सदा ही अपनी हानि को न्योछावर करती गई हूँ।

इन कविताओं के साथ मेरी रागात्मकता का वालपन भी नहीं समाप्त हो पाया है इनके बारे में मैं भला कह ही क्या सकती हूँ।

बालक जिस प्रकार खेल में अपने को खोकर ही अपने को पा लेता है। किसी की प्रशंसा की अपेक्षा नहीं रखता कुछ इसी तरह का सम्बन्ध मेरा इन गीतों से है। बाल क्रीड़ा रसिक मेरी अनर्गलताओं पर ध्यान न दे कर यदि मेरे खेल में व्यवधान न डालेंगे तो इतने से ही मुझे पूरा संतोष होगा। यह 'सुहागिन' तो पंक भरे जीवन पर तैरती हुई दिव्यता को देखकर आश्चर्यवाक मात्र है। इसे बाज़ार में लाने में मुझे संकोच होता रहा है। हीरे जवाहर की लक़ दक़ दुकानों के सामने फुटपाथ पर मैं अपने वन फूल फैलाकर बैठ गई हूँ कोई धनी इनकी ओर देखेगा भी ?

मैं तो पूर्ण रूपेण साहित्यिकों और पाठकों की सहानुभूति पर ही निर्भर हूँ। गुरुजनों के आशीर्वाद और साहित्यकार मित्रों की शुभ कामनाएँ ही मेरा साहस बन सकी हैं। इस 'सुहागिन' के गीतों को पढ़ या सुनकर जिन गुरुजनों ने स्नेहवश मेरी अयोग्यता पर पर्दा डालकर जो मौखिक मौन और लिखित आशीर्वाद दिए हैं मैं नहीं जानती उन्हें किस भाषा में धन्यवाद दूँ।

विद्यावती 'कोकिल'

प्रथम पंक्तियों की सूची

१

ये मेरी पूजा के क्षण हैं।
मेरे आँसू अभी न बहना
असगुन तुम न अभी कुछ कहना
स्पन्दित पुलकित मेरे व्रण हैं।
ये मेरी पूजा के क्षण हैं।

मेरे पाप अभी मत जगना
मेरे पुण्य अभी मत ठगना
तर्क-विगत मेरे अर्पण हैं।
ये मेरी पूजा के क्षण हैं।

तम में दीपक ज्योति खो गई
नास्तिकता भी भक्ति हो गई
बेबस मेरे आकर्षण हैं।
ये मेरी पूजा के क्षण हैं।

२

आज वासना भक्ति हो गई ।
मेरे सपनों की जिज्ञासा
गिरते उठते सत्य बन गई,
और कल्पना जीते जीते
अब जीवन का तथ्य बन गई,
दुर्बलता की अकथ कहानी
कहते कहते शक्ति हो गई ।
आज वासना भक्ति होगई ।

चंचलता से धीरे धीरे
खोल भीति का घूँघट डाला,
अल्हड़ता-वश जिसे छिपाना
था वह भी मैंने कह डाला,
खुलते खुलते वही सत्य की
स्वाभाविक अभिव्यक्ति हो गई ।
आज वासना भक्ति हो गई ।

जड़ता भी गतिवान हुई जब
मिटने का वरदान मिल गया,
बनते बनते प्रकृति करों से
उस दिन मेरा इष्ट बन गया,
क्या बतलाऊँ नश्वरता में
अब मेरी आसक्ति हो गई।
आज वासना भक्ति हो गई।

मेरे अन्तर का गुलाब यह
इसी डाल पर तो मुसकाया,
कांटों पर बिंध पंखुरियों ने
अपना राग पराग बिछाया,
कांटों भरी डाल पर अपनी
अब मेरी अनुरक्ति हो गई।
आज वासना भक्ति हो गई।

आज पवन सी गति है मेरी
मुझको है चलना ही चलना,
बाधाओं की गति अब केवल
मुझको सतत् सतर्कित करना,
चलने वाले इन चरणों को
आज प्रगति ही मुक्ति हो गई।
आज वासना भक्ति हो गई।

३

निराकार साकार मुझे क्या ?
कुछ संबंध बता जाता
मुझसे यह सब फैला जितना है,
मैं तो विश्वासों पर चलती
मेरा देखा ही कितना है,
मुझे एक विश्वास चाहिए
सीमित और अपार मुझे क्या ?
निराकार साकार मुझे क्या ?

बहुत सिखाया समझ न पाई
अब रहने दो बात अधूरी,
बहुत पुकारा आ न सके तुम
अब न सुनाओ वह मजबूरी,
आज हुई श्रद्धा दीवानी
अब वर्जित स्वीकार मुझे क्या ?
निराकार साकार मुझे क्या ?

वह इक ज्वाला ही है जिसने
अन्तर पर अन्तर खोले हैं,
वह इक ज्वाला ही है जिसने
ईश्वर पर ईश्वर तोले हैं,
उस ज्वाला का दान माँगती
अब विराग क्या प्यार मुझे क्या ?
निराकार साकार मुझे क्या ?

तारों के संग जिसने मुझको
भी पथ पर आरूढ़ किया है,
उस तम से पूछो क्यों जलते
रहने का वरदान दिया है,
मैं नभ का श्रृंगार चाहती
आग मुझे क्या छार मुझे क्या ?
निराकार साकार मुझे क्या ?

जाने क्यों प्रति बार मिलन की
अविरत साध बनी रहती है,
मेरा विरह घटित कर, अपना
सृष्टि विकास किया करती है,
यह हास्यास्पद मजबूरी है
अनधिकार अधिकार मुझे क्या ?
निराकार साकार मुझे क्या ?

४

एक नया इतिहास बन गया ।

देशकाल की दूरी हर कर
किसने जग को एक कर दिया,
दूर खड़े इस दुर्बल मानव
का किसने अभिषेक कर दिया,
अखिल सांप्रदायिकताओं का
एक खुला उपहास बन गया ।

एक नया इतिहास बन गया ।

आज पाप को मानव की नव-
करुणा का वरदान मिल गया,
आज पतन को जैसे अपना
सच्चा अभ्युत्थान मिलगया,
मांसल कर से स्वर्ग उतर कर
जीवन का अभ्यास बन गया ।

एक नया इतिहास बन गया ।

जीवहीन आदर्शों की उस
प्रतिमा में फिर जीवन आया,
इन मिटनेवाले भावों ने
फिर मरु में अमरत्व बहाया,
अब मिटना सौन्दर्य-उपासक
मेरे मन की प्यास बन गया।
एक नया इतिहास बन गया।

मैंने जब जब भूलें की हैं
तुमको कुछ अपनी सुधि आई,
तुमने सजल करुण नयनों से
तब तब सदा क्षमा बरसाई,
दुर्बलता का वश्य-करण अब
तो मेरा विश्वास बन गया। ४
एक नया इतिहास बन गया।

आँधी आई पेड़ हिल गये
टूट गये सब नीड़ हमारे,
बाढ़ें आईं नावें डूबीं
और बह गये कूल किनारे,
तेरे विश्वासों का मन्दिर
ही मेरा अधिवास बन गया।
एक नया इतिहास बन गया।

तेरे कर्मों का ढाँचा ही
चिन्तन का भूगोल बन गया,
तेरे मर्मों का गोपन ही
अब भावी का बोल बन गया,
मृदु मुसकान भरा आनन
नव दर्शन का आभास बन गया।

एक नया इतिहास बन गया।

५

मुझको तेरी अस्ति छू गई है ।
अब न भार से विथकित होती हूँ
अब न ताप से विगलित होती हूँ
अब न शाप से विचलित होती हूँ
जैसे सब स्वीकार बन गया हो ।
मुझको तेरी अस्ति छू गई है ।

पर्वत का हिम मुझको जड़ न बनाता
प्रकृति हृदय का तम न मुझे ढक पाता
आज उदधि का ज्वार न मुझे डुबाता
जैसे सब शृंगार बन गया हो ।
मुझको तेरी अस्ति छू गई

दारिद्रता का यह मतवाला नर्तन
पीड़ाओं का उसमें आशिष-वर्षण
तेरी चितवन का ज्यों मूक प्रदर्शन
तेरी मुख-अनुहार बन गया हो।
मुझको तेरी अस्ति छू गई है।

६

वह गन्ध मेरे मन बस गई रे।
इक बन जूही, इक बन वेला
अगणित गन्धों का यह मेला
पाकर मुझको निपट अकेला
इन प्राणों को कस गई रे।
वह गन्ध मेरे मन बस गई रे।

इक छिन पच्छिम इक छिन पूरब
भटक रहे हैं गन्ध पंख सब
रोम रोम के द्वार खोल कर
वह अंतर में धँस गई रे।
वह गन्ध मेरे मन बस गई रे।

नभ में जिसकी डालें अटकीं
थलपर जिसकी कलियाँ चटकीं
मेरे जीवन के कर्दम में
वह अनजाने फँस गई रे।
वह गन्ध मेरे मन बस गई रे।

७

ऐसेइ बसो हे छवि-सीम !
मौन हिलते अधर चितवन कर रही सी बात
और मुख पर आशिशों की हो सजल बरसात
हाव भावों में संवर कर क्षमा हो अतिसीम
ऐसेइ बसो हे छवि-सीम !

बोल से तम-ग्रन्थि जैसे खुल रही हो
स्पर्श से जैसे कि जड़िमा घुल रही हो
झनझनाए परिधि-तारों में विमुक्त असीम
ऐसेइ बसो हे छवि-सीम !

तनिक मिल कर बिछुड़ जाओ पास रह कर दूर
दिशि विदिशि तव ढूँढने को प्राण हों मजबूर
हो उठे निस्सीम मेरा भी अरे लघु-सीम
ऐसेइ बसो हे छवि-सीम !

८

विकल होकर जब पुकारा प्राण मेरे ! प्राण मेरे !
चल दिये तुम पागलों से
हिल उठीं शापित शिलायें,
हो उठीं वाचाल युग-
युग से खड़ी गूँगी दिशायें,
सुधि करी मेरी तभी
इतिहास में बरसात आई,
ख़ून ही प्यासी युगों से
और यह धरती अघाई,
फोड़कर जड़ तत्व जीवन-वन बने अरमान मेरे !

वृक्ष जो आए धरा पर
झूम। पाये चल न पाये,
जीव जो उतरे सलिल में
तैर पाये उड़ न पाये,
शक्ति की सामर्थ्य तुमने
खोल जल-थल पर बिछाईं,
मृत्यु की गति को बढ़ाकर
इन पगों की गति बढ़ाई,
मृत्यु जीवन को मिलाकर तुम बने निर्वाण मेरे !

कुछ दिनों में किन्तु फिर
जीवन हुआ जड़ निज अगति से,
पंक लतपथ हो पुकारा
फिर तुम्हें अति मूढ़ मति से,
देख मेरी दृष्टि बेबस
रुक न पाये सध न पाये,
अचल भू व्यापी दुखों पर
तरल चुम्बन सरिस छाए,
चेतना के पर लगाकर उड़ चले व्यवधान मेरे !

एक अन्तर्वेदना फैली
जिसे भाषा न आई,
और भूली चेतना तब
आंधियों में लड़खड़ाई,

तुम चले उन तप्त आहों
पर सुशीतल छाँह करते,
तुम चले उन रुद्ध भावों
के लिए नव पथ सिरजते,
युग-युगों को चीरते से तुम बढ़े उत्थान मेरे!

जानने को भेद जग का
दृष्टि मेरी बौखलाई,
और तम के गर्भ में तब
ज्योति किरणें छटपटाईं,
तुम चले वीरान मेरी
कल्पना आबाद करते,
तुम चले बन्दी विचारों
को सहज आज़ाद करते,
भक्ति को अवतार ले कर तुम मिले भगवान मेरे!

किन्तु मन्दिर में तुम्हारे
रह न पाई मैं अकेली
वे सभी पहुँचे जिन्होंने
थीं व्यथायें साथ झेलीं,

तुम उठे जब बाढ़ उतरी
ज्ञान की गहराइयों में,
तुम जगे जब शोर गूँजा
भक्ति की अमराइयों में,
गान बन विज्ञान का तुम छा गये वरदान मेरे !

तुम चले तो किन्तु सब
बादल तमस के फट न पाए,
तुम चले तो किन्तु सब
बन्धन कफ़स के कट न पाए,
तुम चले तो किन्तु मिलकर
अंग भूखे कब अघाए,
तुम चले तो किन्तु मिलकर
प्राण रीते भर न पाये,
अब बनो साकार मुझमें आज हे अभिमान मेरे !

६

तुममें सब हुए साकार।

दृष्टि में सब स्वप्न मेरे वचन में सब सत्य
जिन्हें लेकर रच रहे हो सृष्टि मेरी नित्य
आशिषों में विजय मेरी क्षमा में सब हार।

तुममें सब हुए साकार।

कल्पना मेरी हुई तुम में सभी अविकार
भावनायें हुईं तुममें देह धर साकार
मौन जिसकी आत्मा अभिव्यक्ति है शृंगार।

तुममें सब हुए साकार।

नाप लूँगी आज अपनी साध का विस्तार
खुल गया है आज जैसे बन्द सा भंडार
नयन जिसकी तालिका हैं हृदय सुषमागार।
तुममें सब हुए साकार।

जो न लघु-लघु बन निहुरते तुम्हीं आज महान
तो मुझे मिलते कहाँ मेरे भला भगवान
अरे मेरे लघु! तुम्हारा नहीं है कुछ पार।
तुममें सब हुए साकार।

सुधि न लो मेरी, न चाहे करो मेरी याद
और कितनी बार सब फ़रियाद हो बरबाद
तुम्हें तज कर गति कहाँ है आज जीवन-सार।
तुम में सब हुए साकार।

१०

मैं भी तीरथ करने आई ।
मेरा सब सुख छीन तपों ने
किया नहीं वैरागिन,
मुझको मेरे तप साधन ने
दिन दिन किया सुहागिन,
मेरे भीतर इक मूरत है
पड़ती नहीं दिखाईं,
बाहर आने को जो प्रति पल
रहती है अकुलाई,
उसके अवतारित करने को
मंदिर मंदिर धाई ।
मैं भी तीरथ करने आई ।

बाइस

जीवन के झँखरीले पथ पर
बहुत आँधियाँ देखीं,
और मृत्यु की तंग अँधेरी
बहुत घाटियाँ देखीं,
ऊँचे ऊँचे पर्वत नाँघे
कितने नगर मँझाए,
चली आ रही हूँ आँचल में
नन्हा दीप छिपाए,
क्या बतलाऊँ मूर्ति-मूर्ति क्यों
झाँक रही अकुलाई।

मैं भी तीरथ करने आई।

११

अब घर नहीं रहा मन्दिर है ।
ऐसा चढ़ा सुहाग, सुहागिन
अब जोगिन बन आई,
आँखों में रहती है प्रति पल
मूरत एक समाई,
तम प्रकाश दोनों में एकसाँ
पड़ती मुझे दिखाई,
मैं दोनो गंगा यमुना में
रहती सदा नहाई ।
अब घर नहीं रहा मन्दिर है ।

मेरा स्थूल द्रव चला ऐसा
सब सीमाएँ छूटीं,
बाँध तोड़ कर स्नेह बहा
पड़ गईं भीतियाँ झूठी,
भीतर बाहर झरी लगी है
सन्धि सन्धि अब फूटी,
भेद-भाव की काची गागर
टूक टूक कर टूटी।
अब घर नहीं रहा मन्दिर है।

महा-यज्ञ रचकर अब मेरी
अग्नि-खगी चहकी है,
स्वारथ परमारथ स्वाहा कर
देने को बहकी है,
शान्त स्निग्ध जीवन की ज्वाला
लहर लहर लहकी है,
वह सुगंधि अब दिशा-दिशा में
महर महर महकी है।
अब घर नहीं रहा मन्दिर है।

१२

ग्रौर मेरे पास क्या है !
ये व्यथा के मेघ मेरे
सिन्धु के तेरे सहारे,
पृथक होकर ग्राज मीठे
बन गए जो बूँद खारे,
ग्रौर जीवन वृष्टि से मैं
प्यार तेरा बाँटती हूँ।
ग्रौर मेरे पास क्या है !

मौन की मेरे अमा यह
पूर्णिमा सा हास मेरा,
सूयं मेरे छाँह तेरी
ही बनी जिसका बसेरा,
नित नई आभा जगाकर
प्राण अपने वारती हूँ।
और मेरे पास क्या है!

और क्या है! सकल जीवन
है मिलन वृत्तान्त तेरा,
विरह बन कर भी बना है
आज जो आधार मेरा,
यह वियोग कथा चलाकर
मैं जिसे विस्तारती हूँ।
और मेरे पास क्या है?

एक दृढ़ विश्वास अब तो
बन गया है स्वास्थ्य अपना
बन गया सौन्दर्य मेरा
कल्पना का सकल सपना,
मैं उसी सौन्दर्य को अब
बार बार सँवारती हूँ।
और मेरे पास क्या है?

तिमिरता कुछ कह रही थी
कुछ न समझी थीं दिशाएं
मौनता कुछ गा रही थी
कौन समझा भावनाएं
जिन्हें जीवन वेणु में भर
आज मैं अनुहारती हूँ।
और मेरे पास क्या है ?

देह पर अस्तित्व के वह
याद यौवन सी चढ़ी है
और अंगों से विकलता
वस्त्र सी लिपटी पड़ी है
वेदना आभूषणों से
मैं उसे शृंगारती हूँ
और मेरे पास क्या है ?

देख लेना मैं न भागूँगी
कभी इस वृद्धता से
देख लेना मैं नहीं थकती
तुम्हारी मौनता से
क्योंकि अपने भाग्य को
संकेत तेरा मानती हूँ
और मेरे पास क्या है !

१३

जो न मुझे तुम ही अपनाते ।
तो तृष्णा पड़ती मरुथल में
और कहीं संतोष न होता
प्रीति-लता वंध्या हो जाती
दुख सुख का यह कोष न होता
प्राण असंतोषी ये जाने
कहाँ कहाँ मुझको भरमाते ।
जो न मुझे तुम ही अपनाते ।

खोल न देते मुँदे नयन जो
मेरे अपढ़ विवेक, राह में,
कहाँ भटकते तर्क न जाने
इस सागर के जल-अथाह में,
तो ये झूठे गर्व न जाने
मुझे और कब तक कलपाते।
जो न मुझे तुम ही अपनाते।

जब जब भीर परी मुझ पर तो
निकल गईं, विद्या-गरिमाएँ,
ऊँची ऊँची ज्ञान-शिखाएँ
बनी कल्पना की लघुताएँ,
मेरे कच्चे राग द्वेष सब
मेरी कोमल काय घुलाते।
जो न मुझे तुम ही अपनाते।

मेरी परवशताएँ मुझको
भी अकाल में अंध बनातीं,
मेरी कायरता ही तम में
मेरा भय बन मुझे डिगाती,
दिशाहीन बहने वाले ये
कर पतवार कहाँ से पाते।
जो न मुझे तुम ही अपनाते।

१४

जो तेरी छवि में न अटकते।
तेरी स्नेह निठुरताएँ ही
मेरा जीवन-पोत बन गईं,
मेरे चंचल प्राण न जाने
लहरों लहरों कहाँ भट ते।
जो तेरी छवि में न अटकते।

वे डिगते विश्वास हमारे
और काँपती मनोवृत्तियाँ
जो गहती न चरण दृढ़ता से
कैसे डूबे काम उबरते।
जो तेरी छवि में न अटकते।

जो न कथा सुरसरिता तेरी
बह बह कर उर उर्वर करती,
बुद्धि-विपिन को बड़े बड़े
ग्रन्थों के नीरस ज्ञान जकड़ते,
जो तेरी छवि में न अटकते।

सुन्दरता की शशि-किरणों को
छूने के हित विकल नयन ये
जो न देखते नयन-ज्योति वह
धन यौवन निज ध्येय समझते।
जो तेरी छवि में न अटकते।

थके हुए ये पग न डगर में
जो पाते पद चिन्ह तुम्हारे
कर्मकांड की चकाचौंध में
इधर बहकते उधर बहकते
जो तेरी छवि में न अटकते।

अनजानी यात्रा में फिर फिर
जो मिल जाय न सम्बल तेरा
डगमग एकाकी नौका पर
कब तक मेरे धैर्य ठहरते
जो तेरी छवि में न अटकते।

भूख प्यास की उस वेला में
जो न कल्पतरु बन आ जाते,
झुके हुए जड़ता से मेरे
संयम बन्धन त्याग निबुकते
जो तेरी छवि में न अटकते।

१५

उसी समय पावन तुम आए।
परवशता से मेरे अन्तर
की सब भूमि हुई थी काली,
विश्वासों के डिग जाने से
सूख गई थी सब हरियाली,
पावस क्षमा लिए तुम आए
डाल डाल पर फूल खिलाए।
उसी समय पावन तुम आए।

पूजा-पाठ जोग-तप साधे
पुण्य कर्म जो कुछ कहलाते,
पर मेरे प्राणों के नभ में
भय के बादल छाते जाते,
तुम मुसकाए मेरे नभ से
जनम जनम के धुंध मिटाए।
उसी समय पावन तुम आए।

मोह-शिला सी अडिग बनीं जब
संस्कृतियों की सकल त्रुटियाँ,
और अगति की जड़ता से जब
अचल बन गईं यहाँ रूढ़ियाँ,
तुमने अपनी कर्मठता से
पथ के बाधक शैल हटाए।
उसी समय पावन तुम आए।

तुमने सींच दिया मेरे मरु-
जीवन को नव आस्थाओं से,
युवा करदिया वृद्ध थके इस
मन को अभिनव आशाओं से,
जीवन में विश्वास जगाकर
तुमने दुख दारिद्र बहाए
उसी समय पावन तुम आए।

१६

देखो अब अंतर की झाँकी।
वस्त्राभूषण से ही अब तक
है गुरुता अनुमानी,
मेरी मुखरा वाणी से ही
अंतर की गति जानी,
अब तक तुमने बाहर ही से
मेरी समरथ आँकी।
देखो अब अंतर की झाँकी।

आँधी आई घर उजड़े
तब दौड़े द्वार हमारे,
क्या बतलाऊँ आज मौन हूँ
कौन लाज के मारे,
सह न सकी झोंके, मेरी
तो वह शोभा थी टाँकी।
देखो अब अंतर की झाँकी।

❀ ❀ ❀

तनिक रुको यों लौट न जाओ
आँधी ने कुछ भला किया है,
लूट तुम्हारे घर, मेरा यश
कुछ अनदेखा दान दिया है,
आओ अपने भाग्य बाँच लें
आज पूर्णिमा है अचला की।
देखो अब अंतर की झाँकी।

तुम हे नव निर्माण रचाने
वालो ! मुझको भूल न जाना,
माना तुम मिट्टी हो उसकी
पर मेरी सीमेंट चढ़ाना,
मिल जुल कर निर्माण करेंगे
अब यह बेला है पूजा की।
देखो अब अंतर की झाँकी।

१७

अब तन मन्दिर उजियार करो ।
मेरे कर्मो नैवेद्य बनो
तुम चिर नन्दन वन से विकसो,
मेरे भावो तुम सुमन बनो
विकसित पुलकित अविरत बरसो,
आँसू अब अर्घ्य बनो पीड़ा,
उसमें सुगन्धि भर लाएगी,
जो मूर्ति अंतरित हुई यहाँ
सौरभ पर दौड़ी आएगी,
मेरी पूजा के पात्र अरे इन अंगों को अविकार करो ।
अब तन मन्दिर उजियार करो ।

मेरे तम तेरी गहराई
भास्कर की किरणें क्या जानें
मेरे तन तेरी आदिमता
मन की पाँखें क्या छू जानें,
रजनी के पंखों पर उतरो
तन की कुछ हृत्कंपन जानी,
मिट्टी की प्रतिमाएँ गढ़ गढ़
अंगों की कुछ छवि अनुमानी,
तुम अपनी कथा सुनाने को भाषा का आविष्कार करो।
अब तन मन्दिर उजियार करो।

भू पर मानव के स्वर्गों का
कैसे न अवतरण होना है,
देखूँ पाषाणों से पय का
कैसे न प्रस्रवण होता है,
मेरे इस भय-कातर मन से
युग युग की भीति भगाना है,
मेरे इस क्षुधित, तृषित जग से
युग युग की भूख मिटाना है,
मेरी ओ अंध सतत श्रद्धे मेरे सपने साकार करो।
अब तन मन्दिर उजियार करो।

१८

एक ही अधार मेरे एक ही अधार है।
एक ज्वाला है कि रवि, शशि,
उडु, प्रकाशित हो रहे,
जीव और अजीव जिससे
सकल शासित हो रहे,
चिर प्रणय की प्यास लेकर
प्राण तापित हो रहे
एक ज्योति है कि सकल विश्व में प्रसार है
एक ही अधार मेरे एक ही अधार है।

स्वर्ण-मन जिसमें समाने
को गगन उड़ता रहा,
मोहने को धूलि-तन नव-
रँग जिसे भरता रहा,
और अनजाने जड़त्व
घृणा जिसे करता रहा,
मेरे सुर, नर, पशु, का एक ही प्रकार है।
एक ही अधार मेरे एक ही अधार है।

वह भली आसक्ति है जो
भक्ति में घुल घुल रही,
भक्ति है जो भोग के
सौन्दर्य में खिल खिल रही,
बुद्धि है जो अत्र विकस कर
अज्ञता से मिल रही,
मेरी सब वृत्तियों की एक ही पुकार है।
एक ही अधार मेरे एक ही अधार है।

बालपन में साथ जो
रूठा किये खेला किये,
और यौवन भर बिछुड़ कर
वेदना झेला किये,

वृद्धपन में जिसे अर्पण
सकल सुख दुख कर दिये,
मेरे चारों पनों में एक ही उभार है।
एक ही अधार मेरे एक ही अधार है।

रवि किरण सी पूत चितवन
उर प्रकाशित कर रही,
फूल सी मुसकान प्राणों
को सुवासित कर रही,
गति-मयी पद चाप जीवन
में प्रगति जो भर रही,
मेरे चित्रों में सकल एक ही निखार है।
एक ही अधार मेरे एक ही अधार है!

१६

जो देखा है कोई सच मानो ।
महलों पर इन्द्रजाल रच कर,
पहरेदारों पर माया कर
राज्यों की सीमा तोड़ नगर में
कोई जोगी आया है ;
जो देखा है कोई सच मानो ।

युद्धों पर जिसने मंत्र पढ़े
सेनाओं को बेकार किया,
योद्धाओं के साहस छूटे
छलिया का मन पछताया है ।
जो देखा है कोई सच मानो ।

पग पर जिसके इतिहास पला
कर से संस्कृतियाँ मुक्त हुई,
जिसके शिव संकेतो में इक
निर्माण नया लहराया है ।
जो देखा है कोई सच मानो

जिसको साधारण भिक्षु जान
कुछ बचे खुचे कण दे डाले,
झोली में पड़ हो गए रत्न
अब सब का मन ललचाया है ।
जो देखा है कोई सच मानो ।

चितवन में जिसकी शान्ति विकल
मुख पर है जिसके कान्ति अमल,
वह बिखरे से केशों वाला
माँ अब मेरे मन भाया है ।
जो देखा है कोई सच मानो ।

जब से देखी है मूर्ति सुभग
सुख का बादल उमड़ाया है,
इन रोग निपीड़ित अंगों में
इक नव जीवन लहराया है ।
जो देखा है कोई सच मानो ।

जब मेरे सतत उपायों पर
थी अवश धरा, नभ भी चुप था,
कर की कर्मठता से उसने
अक्षय वरदान लुटाया है ।
जो देखा है कोई सच मानो।

मेरी भूलों के अगम स्रोत
तीर्थों से शमित न हो पाए,
वह स्वेद जड़ित भौहों में सिन्धु
समान क्षमा भर लाया है
जो देखा है कोई सच मानो।

२०

माँ मैं अचल सुहाग भरी।
बहुत सावधानी से
तूने मेरी बात चलाई,
क्यों उदास है मुझे
सौंपने की तिथि जब नियराई,
तेरी पुण्य-प्रभा ही मेरी
यौवन छवि बन आई,
यह गंगा है बहने दे क्यों
लगती है घबराई,
आने दे जो पाषाणों पर आती है उतरी।
माँ मैं अचल सुहाग भरी।

आदर्शों की प्रतिमा का
तूने निर्माण किया था,
चंचलता से मैंने उसमें
जीवन फूँक दिया था,
क्या जाना था उससे कढ़ कर
छवि किरणों की माला,
बन जाएगी मेरे इन
तन, मन, प्राणों की हाला,
और फिरूँगी सदा सदा को मैं भूली बिसरी।
माँ मैं अचल सुहाग भरी।

माँ तुमने अपने सपनो को
मुझमें सत्य किया था,
उसी सत्य से मैंने फिर
सपनो को जन्म दिया था,
मेरे सपने महारात्रि से
आज जग उठे मानो,
यह सपनो का ज्योति-जागरण
इसे ताप मत जानो,
वही छटा है जो सुहाग बन कर निखरी निखरी।
माँ मैं अचल सुहाग भरी।

सूर्य चाँद में अट न सकी वह
ज्योति कहाँ छिटकाऊँ,
सागर में न समा पाई
वह धार कहाँ फैलाऊँ,
बिक न सकी जो निधि
सम्पति पर, कैसे सम्मुख लाऊँ,
वह विभूति माँ हृदय चीर
कर कैसे तुझे दिखाऊँ,
आँखों से ओझल हो कर बाहर बाहर बिखरी।
माँ मैं अचल सुहाग भरी।

२१

माँ तू क्यों संकोच भरी।
माना मुझको दे न सकी
वस्त्राभूषण मनमाने
माना दान दहेज न तेरे
गए कभी अभिमाने
एक एक चुम्बन पर तेरे
सम्पति लोटि परी।
माँ तू क्यों संकोच भरी ।

माना बहुत कला कौशल है
तूने सिखा न पाया,
कल्पवृक्ष नारी का पर है
मुझमें बीज उगाया,
दिन दिन मैं घन छाँह करूँगी
क्यों फिर अश्रु ढरी।
माँ तू क्यों संकोच भरी।

मुझ निर्धन के अन्तर में भी
ऐसा रत्न छिपाया,
जिसके बिन धनपति का रहता
अगम कोष कँगलाया,
कैसे कहदूँ तूने मेरी
ख़ाली बिदा करी।
माँ तू क्यों संकोच भरी।

२२

अविरत एक झरी झरती है।
पर्वत पर झरती सागर पर
मरु में नन्दन में झरती है,
रिक्त प्यालियों में जो मदिरा
माँगे बिन माँगे भरती है,
माँ वह छवि तेरे चुम्बन से
मेरे प्राणों में छनती है।
अविरत एक झरी झरती है।

देख अकेला पथ पर माँ नव-
झंझाओं से मत भय माने,
चलने दे री मुझको मेरी
राह अपरिचित है मत जाने,
तेरे विश्वासों की गंगा मेरे कर्मों में बहती है।
अविरत एक झरी झरती है।

तेरे आदर्शों ने ही प्रिय की
छवि का निर्माण किया है,
और कल्पना ने तेरे अनुभव
से ही वरदान लिया है,
मेरे अन्तर की श्रद्धा अब
तेरे ही निश्चय कहती है।
अविरत एक झरी झरती है।

२३

माँ अब मेरी बानि परी।
निरख न नयनों के आँसू
तन पर छाई पियराई,
मेरे पतझर में ही छिपकर
मेरी मधु-ऋतु आई,
तेरे ही आदर्शों की अब पुनरावृत्ति करी।
माँ अब मेरी बानि परी।

निरख न मैंले वस्त्राभूषण
बिखरी अलकावलियाँ,
मेरा चिर श्रृंगार बन गईं
मेरी सब बेकलियाँ,
पुलक वेदनाओं ने ही अब
मेरी माँग भरी।
माँ अब मेरी बानि परी।

मैंने सब सुख त्याग अरी
काँटो पर जीवन वारा,
पिया मिलन को अयि बड़भागिन!
है क्या और सहारा,
इन काँटो पर ही प्रिय की
कुसुमित सुषमा बिखरी!
माँ अब मेरी बानि परी।

मैंने ही तो नित यह दुष्कर
जीवन - जाल बुना है,
अपने मन से मैंने ही तो
अविरत विरह चुना है,
जब विधना ने मेरे सन्मुख
रिधि सिधि आनि धरी।
माँ अब मेरी बानि परी।

२४

कौन गाता जा रहा है ?
मौनता को शब्द दे कर
शब्द में जीवन सँजो कर
कौन बन्दी भावना के
पर लगाता जा रहा है ?
कौन गाता जा रहा है ?

घोर तम में जी रहे जो
घाव पर भी घाव ले कर
कौन मति के इन अपंगों
को चलाता जा रहा है ?
कौन गाता जा रहा है ?

कौन बिछुड़े मन मिलाता
और उजड़े घर बसाता
संकुचित परिवार का
नाता बढ़ाता जा रहा है?
कौन गाता जा रहा है?

अनसुनी कर सकेगा फिर
कौन उसके अमर गायन
जो कि पथ के ठीकरों को
भी जगाता जा रहा है?
कौन गाता जा रहा है?

मृत्तिका में आज फिर
निर्माण का संदेश भर कर
खँडहरों के गिरे साहस
को उठाता जा रहा है?
कौन गाता जा रहा है?

फटा बन कर ज्योति-स्रावक
जोकि हिमगिरि की शिखा सा
कौन गंगाधार सा
अविरोध बहता जा रहा है?
कौन गाता जा रहा है?

२५

सखि अब रस बरसै मैं भीजूँ।
भीतर बरसै बाहर बरसै
दिन बरसै भर राती,
सत्य-लगन की झरी लगी है
रुकती नहिं न सिराती,
जाने किस तरंग पर घर की
वस्तु वस्तु लहराती,
द्रव तो बहै सभी कोइ जानै
अद्रव बही अब जाती,
रस मुझ में सीझा मैं रस में
तनिक तनिक कर सीझूँ।
सखि अब रस बरसै मैं भीजूँ।

अब तो जलै मनौ घर बाहर
सारे सङ्ग सँघाती,
क्या बतलाऊँ स्थूल द्रवै तब
सब दुनिया जल जाती,
आज राह के शैल, शिखर, वन
झाड़ी रोक न पाती,
मुड़कर, झुक कर और लचक कर
मेरी गति बढ़ जाती,
पर्वत तो छीजै री पल पल
मैं न तनिक अब छीजूँ।
सखि अब रस बरसै मैं भीजूँ।

अंगारों की सेज बिछा कर
है अभिसार रचाया,
उस अविकामी और अभोगी
को तब कंठ लगाया,
अंगारे सब फूल बन गये
अजर अमर अनिकाया,
जनम जनम के घाव भर गये
अंग अंग मुसकाया,
अब अपने ही राग रंग पर
बार बार मैं रीझूँ।
सखि अब रस बरसै मैं भीजूँ।

उस वैरागी के विराग पर
ही मन आज ठगाया,
अनछूये स्पर्शों से तन
रहता सदा नहाया,
उस नटवर ने आज दीठि पर
क्या टोना करवाया,
जग लगता है बढ़ी घटी सी
बस अपनी ही छाया,
अपने पर तो मोह बहुत है,
अब किस पर मैं खीझूँ।
सखि अब रस बरसै मैं भींजूँ।

२६

सखि मैं अंग अंग से भीजी।
चढ़ी शिखर पर कहीं ढूँढ़ती
निज सुहाग की लाली,
मुझे अकेला देख घिर-
चलीं खूब घटाएँ काली,
बादल अपने मनमाने
तब खूब गरल मधु बरसे,
लौटे नहीं कहीं से पर पग
क्या जाने किस बल से,
कहाँ अमृत है, कहाँ गरल है
बूँद बूँद अब सीझी।
सखि मैं अंग अंग से भीजी।

मुझे चेत इतना था कहाँ
कि किसने मुझे पुकारा,
कोई शब्द कान में पड़कर
वही नाद झंकारा,
वेसुध सी अनन्त तारों की
बीन बनी इकतारा,
जड़ चेतन के साथ हो
चला सग - संबन्ध हमारा,
एक पुलक में पगी खड़ी थी
सारी सृष्टि पसीजी ;
सखि मैं अंग अंग से भीजी ।

मन प्रांगण में झरी लगी है
आँखें हैं रसियानी,
मैं अपने ही घर आँगन में
फिरती अनपहचानी,
मैं डूबी, डूबा लगता है
मुझको सकल जमाना,
रँग में डूब उठा हो जैसे
धोया वस्त्र पुराना,
सभ्य [illegible] में क्या जाऊँ
अब सब सारी गलमींजी ।
सखि मैं अंग अंग से भीजी ।

२७

सखि यह कैसी छाँह जुड़ावन !
जहाँ बैठते ही मेरी
जड़ता भूली जड़ताई,
आत्म-चेतना बाहर आकर
अंग अंग पर छाई,
पूर्ण-समर्पण का रहती जो
अक्षत कवच चढ़ाए,
यह कोमल तन अब तापों के
जलता नहीं जलाए,
भीतर बाहर चाहे जितनी
वायु चले झुलसावन !
सखि यह कैसी छाँह जुड़ावन।

प्रगति रुकी जब तक बैठी थी
पुण्य प्रताप सँवारे,
खोल दिए दुर्बलताओं के
विवश आवरण सारे,
जग के जड़ आदर्शों ने जब
दिया न साथ हमारा,
मजबूरी में तब गुनाह ही
मेरा बने सहारा,
आज बन गईं सखि मेरी
भूलें भी राह सुझावन ।
सखि यह कैसी छाँह जुड़ावन ।

इस मिटते रहने में है
जब से इक रूप निहारा,
मेरे रोम रोम में बहती
है गंगा की धारा,
नीच ऊँच का कौन भेद अब
सभी नहा जाते हैं,
उसी रूप के दरस परस को
सब समीप आते हैं,
क्या बतलाऊँ मैं उनमें से
पावन कौन अपावन ।
सखि यह कैसी छाँह जुड़ावन ।

२८

सखि मैं जब से हुई बिरानी।
अपनी टेक न कोई राखी
अपनी बानि न कोई,
अपने सुख से जगी न तब से
अपनी नींद न सोई,
मैंने अपने दिवस न जाने
अपनी रैन न जानी।
सखि मैं जबसे हुई बिरानी।

देखो कैसी मौन हो गई
मेरी मुखरा बानी,
जड़ बन कर चितवन में
मेरी रहती है अकुलानी,
अब कितना विह्वल लगता है
इन आँखों का पानी।
सखि मैं जब से हुई बिरानी।

माता के दुलार ने मन को
कितनी बार सँवारा,
कीर्ति और यश ने मुड़-मुड़ कर
कितनी बार पुकारा,
मैं बेसुध सी चली कि मुझको
सब गरिमा बिसरानी
सखि मैं जब से हुई बिरानी।

कितना विवश समर्पण उससे
कैसे स्वत्व छिपाऊँ,
कितनी अविरल धार कि उससे
कैसे अहं बचाऊँ,
इस प्रवाह में पड़कर
मेरी सब बस्ती उतरानी!
सखि मैं जब से हुई बिरानी।

२६

जलो जलो हे जीवन बाती ।
आहत आह कराह भरी सी
एक सतत उर दाह भरी सी,
जलने ही जलने को आतुर
तूफ़ानों से डरी डरी सी,
शीत स्नेह को स्पंदित करतीं
सदा रहो तुम ऐसेइ ताती ।
जलो जलो हे जीवन बाती ।

आँगन आँगन उत्सुक बालक-
मन तुम से करने को क्रीड़ा,
चूम चूम कर गात सुकोमल
भरो भरो निज मादक पीड़ा,
जिस पीड़ा की हाला पी कर
प्रति पल तुम रहतीं मदमाती।
जलो जलो हे जीवन बाती।

तम में एक लपक लग जाती
जन जन के दीपक जल जाते,
दुख की एक अवधि चुक जाती
घर घर रूठे पाहुन आते,
तो भूखी शृंगार भावना
दीवाली त्योहार मनाती।
जलो जलो हे जीवन बाती।

३०

उनको क्या वे दिवस सुहाने !
मधुर प्रतीक्षा-क्षण हों उनको
जिनके आँसू पर प्रिय आएँ,
जिनकी स्मृति को गिरा मिली हो
वे अपने सुख दुःख सुनाएँ,
पर जिनकी वाचा हो गूँगी
सुख जिनके हों अनपहिचाने !
उनको क्या वे दिवस सुहाने !

जिनके अंतस हों पर्वत सम
जो न चाहने पर मिल पाएँ,
उपल - उदासी में मुसकाएँ
जिनपर नित सम ऋतुएँ आएँ,
दो पर्वत यदि मिले कभी तो
कहाँ भेंट कर हृदय जुड़ाने ?
उनको क्या वे दिवस सुहाने ?

वे जो हैं दो नक्षत्रों से
एक अण्ड के दो अण्डज से,
रवि-शशि से फिरते हैं तम में
ज्योति पिण्ड के दो पिण्डज से,
पास पास एक ही गगन में
सदा सदा को हैं विलगाने ?
उनको क्या वे दिवस सुहाने ?

सिन्धु-मना कोई माता के
इंगित पर जो चलते आए,
स्रोत, सरित सम वे निज मन से
कब रुक पाए कब बह पाए,
सब शुभ-घड़ियाँ अनपहिचानी
सब संतोष अभी अनजाने ?
उनको क्या वे दिवस सुहाने ?

३१

छाओ मेरे रसधर छाओ।
तन पर छाओ मन पर छाओ
मेरी अखिल तपन पर छाओ,
जिस क्षण मुझसे मिलो ताप हर
जगती पर अमृत बरसाओ,
तपते दिन निशीथ हो जाएँ
हे रहस्यमय जब तुम आओ।
छाओ मेरे रसधर छाओ।

मैंने जलना ही जाना है
तुमने जाना है कलपाना,
मैंने अपनी बानि न छोड़ी
तुम्हें पड़ गया ही तब आना,
मेरे तप्त हृदय से भेंटो
धरती पर वर्षा ऋतु लाओ।
छाओ मेरे रसधर छाओ।

जीवनहीन बीज जी जाएँ
मेरे कुंठित तरु मुसकाएँ,
सूखे सर सरिता उमड़ाएँ
मेरे सब अभाव भर जाएँ,
हे तुम मेरे श्यामल सुन्दर
आओ मेरी सृष्टि खिलाओ।
छाओ मेरे रसधर छाओ।

३२

प्रिय तेरी गति जाय न जानी !

आकुल प्राणों ने माँगा था
सतत मिलन मतवाला,
वरद हस्त सिर धर कर तुमने
चिर वियोग दे डाला,
आज थक गई है मेरी गति
हे मेरे वरदानी !

प्रिय तेरी गति जाय न जानी !

चरणों के अति निकट धूलि में
तनिक शरण थी माँगी,
पर्वत पर बैठा कर तुमने
किया मुझे बड़-भागी,
पर लेकर यह भाग करूँ क्या
मेरे अंतरज्ञानी !
प्रिय तेरी गति जाय न जानी !

मौन शान्ति चाही थी उस क्षण
तेरी शशि चितवन से,
पर तुमने ज्वाला दे डाली
मेरे शुभ चिन्तन से,
पल भर को भी तब से मेरी
ज्वाला नहीं सिरानी !
प्रिय तेरी गति जाय न जानी !

मैंने माँगी मुक्ति कि जिसका
प्रति क्षण हो मदिरीला,
तुमने चिर जीवन दे डाला
कटु, कषाय, मधुरीला,
मैं रस-रस डूबी रस-गागर
मुख में रही न बानी !
प्रिय तेरी गति जाय न जानी !

मैंने तो माँगी थी तेरी
भक्ति अरे एकाकी,
उस एकाकीपन ने पर
जग की सब सीमा नापी,
वह तो सिंधु अपार बन गया
मैं फिरती उतरानी !
प्रिय तेरी गति जाय न जानी !

दूर न थे दो वंशी के स्वर
पर वे यह क्या जानें,
जीवन भर मिलने को जिनके
पागल प्राण दुखाने,
जब संगीत उठा दोनो को
अपनी सुधि बिसरानी !
प्रिय तेरी गति जाय न जानी !

३३

पंछी कौन देश के वासी ?
कौन दिशा से आये हो
है कौन दिशा को जाना,
उड़ते ही रहते हो प्रति पल
है या कहीं ठिकाना,
नहीं चाहते ठहर किसी से
जी की बात बताना,
कुछ बीते पर नहीं जानते
ऋतुओं से घबराना
कौन सँदेसा लिये जा रहे ओ अखंड विश्वासी ?
पंछी कौन देश के वासी ?

आ बैठे मेरी मुँडेर पर
जैसे चिर पहिचाने,
कुछ कहने को मेरे भीतर
भाव लगे भहराने,
तन भूला अपनी थकान
औ मन भूला सुधियाना,
तुमने कान झुकाए फिर
वाणी ने कहा न माना,
मुझे होश आया जब तुम उड़ चले दूर सन्यासी !
पंछी कौन देश के वासी !

तुमसे कह कर मधुर हो उठी
आगी सरिस कहानी,
फूलों से कोमल लगते हैं
अब काँटे अभिमानी,
तेरी नास्तिक मुसकानों ने
मुझ में भक्ति जगाईं,
मेरे निष्ठुर आख्यानों पर
जो बादल सी छाईं,
तनिक भेंट में मिटा गए तुम मेरी जनम उदासी !
पंछी कौन देश के वासी !

नहीं जानती तुम पर मेरा
मन कैसे पतियाना,
दृग के उस विश्वास
अभय, दृढ़ता से कुछ पहिचाना,
अब वह अभय समाया मुझ में
या तुम स्वयं समाये,
मेरे पैर डगमगायें तब
रहना मुझे बचाये,
समय चूक कर गिर पड़ते हैं बड़े बड़े अभ्यासी ?
पंछी कौन देश के वासी ?

३४

इतनी सी बात निभा देना !
उलझन के घने कुहासे में
जब प्राण भटक रह जाते हों,
जब तक रोक कर पथ उनका
भीषण कलहें उपजाते हों,
आगे न सूझता हो पीछे
जाने से पग घबराते हों,
सब साहस टूटा जाता हो
सब धीरज छूटे जाते हों,
विश्वास लदी अपनी पलकें सम्मुख आ तनिक उठा देना।
इतनी सी बात निभा देना !

मेरी वह पीर पुरानी जब
फिर हो कर नई उभर आए,
कोई न समझ पाए कारण
बढ़ कर असाध्य जब हो जाए,
जब जगं के सभी कला कौशल
रह जायें भूले भरमाए,
जब पूजा पाठ प्राथना जप
कीर्तन तक असफल हो जाए
तुम अपने स्पर्श-सजीवन से जीवन की ज्योति जगा देना !
इतनी सी बात निभा देना !

जब बड़ी बड़ी विरुदावलियाँ
मुझ में उत्साह न भर पाएँ,
ज़ब पणव और भेरी मेरे
मन को न जागरित कर पाएँ,
मेरे ही तर्क उलट कर जब
मेरे वादों की हार बनें,
जब मेरी निपट उदासी ही
मेरे अंतर का भार बने,
निर्माण भरे अंतर से तुम सम्मुख आकर मुसका देना !
इतनी सी बात निभा देना !

यों तो मेरे इन हाथों ने
लड़ते रहना ही सीखा है,
मेरे इन दुर्बल पावों ने
बढ़ते रहना ही सीखा है,
पथ का अनन्त विस्तार लिए
पड़ जाय कहीं मुझको रुकना,
कर्तव्यों का गुरू-भार लिए
पड़जाय कहीं मुझको झुकना,
नत मस्तक के नीचे अपने अचला रे चरण बढ़ा देना !
इतनी सी बात निभा देना !

३५

ओ अंध प्रेम ओ बधिर तर्क !
यदि रुक न सको नाचे जाओ ।
नाचे जाओ ओ प्रलयंकर !
गति भंग हुए से अलग अलग,
मिट्टी के तन में समरथ भर
तुम एक एक से विलगाओ ।
यदि रुक न सको नाचे जाओ ।

फा० ६

चीत्कार विकम्पित है नभ तुम
कर पाए स्वर-संधान नहीं,
रोको न मगर गायन क्षण भर
गाओ न बेसुरे हो गाओ ।
यदि रुक न सको नाचे जाओ ।

चलने दो संघर्षण यों ही
ओ भिन्न नाम, ओ एक प्राण !
सम्भव है सम पर आ जाओ
तुम और न कुछ कहने पाओ ।
यदि रुक न सको नाचे जाओ ।

तुम एक सिन्धु तो एक शिखर
सकता है तुमको कौन हिला ?
अंतर में एक दूसरे के
जब तक उठ कर न समा जाओ ?
यदि रुक न सको नाचे जाओ ।

३६

आज रात श्रृंगार करूँगी !
जाऊँगी मैं मलय शिखर पर
श्वासों से समीर पी लेने
बालों को सुरभित कर लेने
चितवन में गुरुता भर लेने
खिले फूल सा यौवन लेकर शूलों के वन पार करूँगी !
आज रात श्रृंगार करूँगी।

आज जल उठा एकाकीपन
तोड़ो मेरी कारा तोड़ो,
घाव बन गया यह दुराव अब
खोलो मेरे बंधन खोलो,
एक बार जी भर कर निष्ठुर! मैं मानव को प्यार करूँगी!
आज रात शृंगार करूँगी!

क्रेता विक्रेता बन जिसने
जग को श्री सम्पन्न बनाया,
उसकी ही करुणा के बल पर
उसकी ही बस्ती में जा कर,
आज स्नेह की हाट लगाकर मैं निर्धन व्यापार करूँगी!
आज रात शृंगार करूँगी।

सजल जलद का आज न जाने
क्यों दम घुटता सा जाता है,
सबको सोता देख गगन कुछ
कहता है पर रुक जाता है,
आज मधुर रागिनी छेड़ सब का सोना दुशवार करूँगी!
आज रात शृंगार करूँगी!

३७

मैं तो अपने पिया की सुहाग भरी।
जब नयनों ने वह छवि देखी
इन पर तो रजनी झुक आई,
तारों के मिस अपनी सब निधि
बेसुध इधर उधर बिखराई,
तब पिय की अहिवात भरी
स्मिति ने झुक मेरी माँग भरी।
मैं तो अपने पिया की सुहाग भरी।

कितनी गहरी बसी न जाने
वह चितवन मेरी मनभावन,
शीत ताप जिसमें सब खोये
जिसमें डूबे रहते सावन,
जब जब वह छवि फिर जाती
तब तब लगती मैं फाग भरी !
मैं तो अपने पिया की सुहाग भरी ।

पिय की अंगुलियों को छू
जीवन के टूटे साज बज गये,
भले बुरे सब कर्म सँवर कर
स्वर बन अपने आप सज गये,
मैं भूली भाषा पर मेरी
वीणा है अब राग भरी।
मैं तो अपने पिया की सुहाग भरी ।

३८

सुहागिन तुझे अकेला क्या ?
संध्या सा जिस प्रिय का चुम्बन
मन्द पवन सी जिसकी बाहें,
लाख लाख भीती विलगायें
किस दिन किस क्षण पास न आएँ
तू डूबी प्रिय में तुझको यह
प्रतिबन्धों का मेला क्या ?
सुहागिन तुझे अकेला क्या ?

ऊषा सा जिस प्रिय का स्पर्शन
और रात्रि सी रहसिल चितवन,
निशि हैं जिसके गूँगे सपने
और दिवस मुखरित अनुवर्तन,
तू चढ़ चली समय नौका पर!
तब तम और उजेला क्या ?
सुहागिन तुझे अकेला क्या ?

ठौर ठौर प्रिय स्मृति का मन्दिर
जहाँ कर्म बन गए वन्दना,
यौवन बना आरती तेरी
और बुढ़ापा बना अर्चना,
प्रिय दर्शन को तुझे पुजारिन
वेला और कुवेला क्या ?
सुहागिन तुझे अकेला क्या ?

सुख-आवेगों ने भाषा दी
दुख से जिस में रस बहता है,
मौन समर्पण लय है जिसकी
जीवन जिसकी मृदु कविता है,
दुनिया का कोई दुख तुझको
फिर झेला अनझेला क्या ?
सुहागिन तुझे अकेला क्या ?

अट्ठासी

३९

तुझे देस परदेस भला क्या !
जिसने चल लहरों को अपने
जीवन का आधार किया है,
जिसने अपने विश्वासों से
कल्पित को साकार किया है,
चिर रसवन्ती उस श्रद्धा को
मूरत सबला क्या अबला क्या !
तुझे देस परदेस भला क्या !

नवासी

कभी सिमट कर कभी लहर कर
जिसने है जलना ही जाना,
जिसका जीवन एक क्रान्ति है
दीपक ज्वाला सा दीवाना,
अरी लजीली कम्पित ज्वाले
ठौर तुझे मैला उजला क्या !
तुझे देस परदेस भला क्या !

जीवन तरु का पूर्ण समर्पण
झूम रहीं उन्मत्त डालियाँ,
पुण्य जहाँ हैं खिले फूल से
और पाप हैं अनखिल कलियाँ,
मस्तक पर चढ़ जाने पर री
फूल अनखिला और खिला क्या।
तुझे देस परदेस भला क्या !

४०

बरसो मेरे रसधर बरसो।
एक लहर मधुबन पर बरसो
सूखा वंशीवट हरियाए,
प्रेम सँदेसा लेकर अपना
मोहन फिर बाँसुरी बजाए।
बरसो मेरे रसधर बरसो।

एक लहर यमुनातट बरसो
घूस ख़ोर कालिय जग जाए,
उसके फण पर नाच नाच कर
नवल सृजन का रहस मचाएँ।
बरसो मेरे रसधर बरसो।

एक लहर गङ्गातट बरसो
बरसो दोनों तट मिलजाएँ,
बिछुड़े दो तट वासी बरबस
एक एक को कंठ लगाएँ।
बरसो मेरे रसधर बरसो।

एक लहर खेतों पर बरसो
भू के अन्न कोष खुल जाएँ
मिट जाए यह भूख निगोड़ी
जग के सब अभाव मिट जाएँ।
बरसो मेरे रसधर बरसो।

एक लहर आँगन में बरसो
घर के रोग दोष बह जाएँ
चहुँदिशि इक आनँद छा जाए
बालक किलकैं गाय रँभाएँ।
बरसो मेरे रसधर बरसो।

४१

प्राण हुए चरणों पर राते ।
नेह लगाती नयनों से वे
सुन्दरता पर जाते
इधर देखते नहीं भूल ये
बिलख बिलख रह जाते ।
प्राण हुए चरणों पर राते ।

कभी रीझते ये विद्या पर
मुझमें तर्क जगाते
कहीं डोल जाती मेरी मति
मेरी भक्ति डिगाते ।

प्राण हुए चरणों पर राते ।
जो ये स्नेह देख बढ़ते
निष्ठुरता देख पिछड़ते
जनम जनम की करी कमाई
क्षण में कहीं लुटाते ।
प्राण हुए चरणों पर राते ।

जो वैभव पर खिलते ये
निर्धनता देख सकुचते
युग युग प्यासे तनिक देर में
कैसे हाय अघाते !
प्राण हुए चरणों पर राते ।

४२

मैं केवल चरणों की दासी ।
पद रज है मेरा अंग राग नित
नई सुगन्धित रज पाती,
अनुकम्पा है मेरा सुहाग जिसकी
लाली मन हर जाती,
मैं बार बार वे पद छूने बस
जनम जनम से हूँ आती,
निर्वाण यहीं है मुक्ति यहीं
मेरा काबा मेरी काशी ।
मैं केवल चरणों की दासी ।

नव-आधि व्याधि के उपवन में
सुधियों की मधुऋतु से सज कर,
मेरे जीवन की सकल-सृष्टि
मुसकाती है मलयानिल भर,
पीड़ा पर्वत पर स्थित उन
रौद्रिल-चरणों से कढ़ कढ़ कर,
मेरे भीतर मेरे बाहर बहती
रहती नित गंगा सी।
मैं केवल चरणों की दासी।

है नहीं रूप का लोभ यहाँ
जीवन बन जाता नहीं भार,
यौवन का यहाँ चढ़ाव नहीं है
और न आता है उतार,
मुझको न तपाते ताप यहाँ
मुझको न सताती लू बयार,
पग-चिन्ह बने वट-वृक्ष और
सब ठौर हो रही छाया सी।
मैं केवल चरणों की दासी।

कोकिल जी की अन्य रचनाएँ

१—अंकुरिता

प्रणय, प्रगति और जीवनानुभूति के हृदयग्राही गीतों का अनुपम संग्रह।...१॥)

२—माँ

सम्पूर्ण विश्व ही महा प्रजनन की एक क्रिया है। मातृत्व की विकासोन्मुख अभिव्यक्ति ही इसका लक्ष्य है। माँ का यह रूप लोरियों के माध्यम द्वारा 'माँ' में एक सतत विकास की कथा बन गई है। माँ का संशोधित तथा परिवर्धित नया संस्करण...१)

❀

शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली

३—सुहाग गीत

विवाह सम्बन्धी प्रत्येक अवसर के उपयुक्त अवधी लोक गीतों का अपूर्व संग्रह। गीतों की स्वरलिपि, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वैवाहिक रीतियों की विवेचना तथा अत्यन्त अर्थपूर्ण टिप्पणियों से समलंकृत।

४—अमर ज्योति (महा काव्य)

ज्ञान एक सतत ज्योति की भाँति ज्वलन्त है। प्राणी सर्वांगीणता से जब उसे छू लेता है तो वह भी ज्योति की भाँति जलने लगता है और जलता ही जाता है। श्री और ओम् दो अनुपम चरित्रों द्वारा इस विशद भावना का चित्रण इस महा काव्य में हुआ है।

प्रकाशक

ज्योति प्रकाशन, प्रयाग



श्रीमती विद्यावती जी कोकिल के इस संग्रह को मैंने देखा है। मैंने इन गीतों में से कुछ को गाते भी सुना है। जब वे गाती हैं तब संगीत के स्वभाव के [illegible] शब्द बाहर के जगत [illegible] होकर अन्तर के बोल [illegible] हैं। उस समय उनकी [illegible] अन्तर्वेदना में न [illegible] भी कर ले तो यह [illegible] नहीं सकता। इस देश के कवि गायक संगीत सरस्वती श्री ओंकारनाथ जी ठाकुर ने ऐसी मनोदशा को एक बार 'संवादात्मक संवेदना के संस्मरण' कहा था। ये स्वर ऐसे होते हैं जो भाषा और प्रान्तों के छोटे भेदों को लाँघ जाते हैं और 'रस बरसे मैं भीजूँ' के आनन्द में अनन्त को सराबोर करने लगते हैं। सच तो यह है कि काव्य जब संगीत बनता है, तब उसे शब्दों के प्रकटीकरण का मोह छोड़ना ही होता है। किन्तु विद्यावती जी की इन रचनाओं में शब्द और स्वर दोनों भाई-बहिन की तरह साथ-साथ चलते हैं और बड़े भले लगते हैं। एक ओर जहाँ इन स्वरों को लय और अभिनय का वाणीदान प्राप्त होता है तहाँ दूसरी ओर विश्ववाणी में विश्व नियंता की ओर खींचने का अर्थदान भी वे किये बिना नहीं मानते।

कविवर दिनकर ने उस दिन कोकिल जी का गीत सुनते सुनते कहा—"इतना मधुर, इतना अर्थमय, इतना अनुभूति से भरा! सुन्दर है, अतिशय सुन्दर है।"

जी चाहता है इन गीतों को, ऐसे गीतों को, गीतों के ऐसे लोक की जहाँ-तहाँ से गूँजनेवाली वाणी को, काल का कहना मानने से इनकार करते हुए, गति की खूँटी पर आनन्द की वनमाला टाँगते हुए, सुनते रहें, सुनते ही रहें।

माखनलाल चतुर्वेदी

आश्विन शुक्ल १ २००६ वि०